

भारतीय गाँव: कृषि और संस्कृति के बदलते प्रतिमान

सामाजिक विमर्श
1(1) 14-30
© 2018 CSD and
SAGE Publications
sagepub.in/home.nav
DOI: 10.1177/2581654318787686
http://smv.sagepub.in



दीपांकर गुप्ता¹

सार

इस आलेख में भारतीय गाँव में कृषि और संस्कृति के बदलते स्वरूप को मद्देनजर रखते हुये गाँव को पुनः परिभाषित करने पर बल दिया है। इस संदर्भ में ग्राम-शहर के बीच कड़ी, गाँव पर वास्त्य कारकों का प्रभाव, गाँव के बारे में प्रचलीत व वर्तमान धारणाओं, जाति व्यवस्था का परिवर्तनीय ढाँचा, कृषक आन्दोलन, दीर्घ और लघु कृषक, गैर-कृषि रोजगार और विलुप्त हो रहे गाँव का गहन विश्लेषण किया है।

पुरातन ग्रामिण संस्कृति लुप्त हो रही है। परम्परागत जाति-आधारित व्यवसायों की बाध्यता समाप्त प्रायः हो चुकी है। परंतु जाति की अस्मिता और भावना कायम है। छुवाछूत नाममात्र के लिये दिखाई देती है। कृषि पर निर्भरता के बजाय लोग शहरों में रोजगार ढूँढने लगे हैं। गाँवों में सुविधाओं के अभाव के बारे में आवाज उठाने लगे हैं। धनी ग्रामीण शहरों में आवास और सुविधाओं का लाभ पाते हुये, गाँवों में अपना राजनैतिक वर्चस्व बना रहे हैं। ग्रामीण अर्थव्यवस्था खण्डित हो रही है। ग्रामीण गाँव छोड़ने के लिये अग्रसर हैं।

कुंजी शब्द

कृषि, संस्कृति, ग्रामीण-नगरीय कड़ी, कृषक आंदोलन, गैर-कृषि कार्य, जाति अस्मिता

ग्रामीण भारत में कृषि तथा संस्कृति

भारतीय गाँव जिनको कभी स्थायी, अपरिवर्तनीय और आलसी कहा जाता था, अभी कुछ दशकों से वृहद परिवर्तनीय माने जाने लगे हैं। बाधाएँ जो जाति तथा कृषि आदि से जुड़ी हुईं अनेक बाधाएँ थीं, वे अब उतनी कठोर नहीं हैं। जाति का प्रभावी आधार अब शिथिल हुआ है। कृषि-जन्य व्यवसायों में जाति की शिथिलता ने नगरीय व्यवसायों को अपनाने में मदद की है। कृषि के कार्य में ठहराव आने के कारण नगरीय व्यवसायों को प्राप्त करने में आसानी हुई है, और ग्रामों से नगरों को पलायन, करने में जिनको नौकरी मिल सकती है, उनकी संख्या में भी वृद्धि हुई है। इसी अवधि में वोट बैंक की राजनीति में वृद्धि हुई है।

¹ सेवानिवृत्त प्रोफेसर, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, ईमेल: Dipankargupta@hotmail.com

गाँवों की समस्याओं पर वोट बैंक की राजनीति और राजनीतिक नेताओं की जुबानी-सेवा निरंतर जारी है। ग्रामीणों की सेवा को बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया जाने लगा है, और उनकी आवश्यकताओं की चर्चा भी की जाने लगी है। इसी परिप्रेक्ष्य में कृषि तथा कृषि की आवश्यकता और संबंधित आधारों को समझा जाना चाहिए। यद्यपि, गाँवों की संस्कृति स्थिर नहीं है, और इसका स्वरूप भी अस्पष्ट है। कुछ महत्वपूर्ण आधार पहले से मौजूद हैं। नीति-निर्माताओं और अनेक भारतीयों के सम्मुख ये खुले प्रश्न हैं। ग्रामीण भारत में कृषि व संस्कृति के परिवर्तनकारी स्वरूप को गहराई से समझना होगा।

ग्राम-नगर जुड़ाव

प्रायः इस सत्य को स्वीकार करने में ग्रामीण गतिशीलता के संदर्भ में देखा जाना चाहिए कि वर्तमान में यह केवल नगरीकरण की प्रक्रिया नहीं है, जो गाँव पर प्रभाव डालने का काम करती है। मात्र यही तथ्य नहीं है जो बाहर से गाँव पर असर डाल रहा है। जिन लोगों के पास अपनी भूमि है और जो ज़मींदार हैं, वे भू-स्वामी असरदार हैं, क्योंकि वे जो ग्रामीणों को खेती के काम में लगा सकें। आज गाँवों की संरचना ऐसी है जिसमें किसी भी प्रकार की बीमारियों का उपचार मुश्किल नहीं है, क्योंकि नगरीय सेवाओं की उपलब्धि पहले की अपेक्षा अधिक है, और इससे बहुत अंतर आया है। यह भी सत्य है कि पहले की अपेक्षा ऐसे गाँव अधिक हैं जिनमें संरचनात्मक विकास हुआ है। शहर से गाँव को जोड़ने वाली अच्छी सड़क है। मीटर से चलने वाली गाड़ियों की संख्या बढ़ी है। कुछ दशकों पहले ऐसा कुछ भी नहीं था।

कृषि कार्य के प्रति संकोच है, जिसके कारण जीविका और सम्मान दोनों के लिए लोग नौकरियाँ तलाश रहे हैं। ऐसे लोगों का विचार है कि गाँव एक दिशा में और एक विशेष रूप में बदल रहे हैं। यही कारण है कि गाँव नगरीकरण की ओर मुड़ रहे हैं। प्रायः परिवर्तन की बातें होती हैं। कृषि के गतिरोध को समाप्त करने के लिए ग्रामवासी निरन्तर प्रयास कर रहे हैं। शहर गाँव की ओर नहीं आ रहा है। गाँव शहर की ओर मुड़ रहा है, और पीछे टूटे-फूटे, कूड़े-कबाड़ से भरा अव्यवस्थित गाँव बचा रहता है।

यह अच्छा होगा यदि नगर और ग्राम के संबंधों का परीक्षण किया जाए, यह देखने के लिए कि नगर किस प्रकार परिवर्तित हो रहे हैं। यह भी देखा जाना चाहिए कि नगरीय परिवेश किस प्रकार बदल रहा है। गाँव के इन स्वरूपों को नगर की संज्ञा भी नहीं दे सकते। गाँवों का नगरों से अलगाव हो रहा है, लेकिन सच यही है कि इसे समझने के लिए एक नए सोच की आवश्यकता है, जिससे ग्रामीण जीवन के अंतरिक संबंधों को समझा सके। ऐसी समझ के आधार पर नगर-गाँव संबंध को समझा जा सकता है, और जिसके माध्यम से संरचनात्मक प्राथमिक आधारों को समझने में सुविधा होगी।

गाँव पर दबाव

भारतीय ग्राम अब वैसे नहीं हैं, जैसे वे पहले हुआ करते थे। गाँव वैसे भी नहीं हैं, जिनकी पूर्व में कल्पना की जाती थी। ऐसे स्पष्ट आँकड़े हैं जो कृषि-उत्पादन में गिरती हुई उत्पादन-दर के संबंध में संकेत करते

हैं, और ग्राम से नगर की ओर पलायन के संबंध में स्थिति भी स्पष्ट करते हैं। गैर-कृषि नौकरी के आँकड़े भी उपलब्ध हैं। यह संख्या छोटी नहीं है, और यह पूर्ण संभावना है कि यह संख्या पुराने अनुमान पर आधारित है। संयोग से ये आँकड़े यद्यपि पुराने अनुमानों के आधार पर निर्भर हैं, हम कह सकते हैं कि कृषि भारत की अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार है। वर्तमान में 24% ग्रामीण गैर-कृषि व्यवसायों में व्यस्त हैं। यह मामूली संख्या नहीं है, और सम्भवतः यह एक नवीनतम अनुमान नहीं है। कृषि के ये आँकड़े (तथ्य) यह दर्शाते हैं कि भारतीय ग्राम अब उस स्थिति में नहीं हैं, जैसे कि पहले हुआ करते थे।

भारत में गाँव अब वैसे तो नहीं है, जैसे कि वे पूर्व में हुआ करते थे, और काफी समय से कल्पित स्वरूप से भी बहुत अलग है। ऐसे अस्पष्ट आँकड़े इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि कृषि में वृद्धि दर घट रही है। इस परिवेश में सबसे पहला प्रश्न गैर-कृषि नौकरियों का है, जिनका पैमाना वर्षों से बढ़ रहा है। लगभग 24% ग्रामीण गैर-कृषि व्यवसायों में लगे हुए हैं, और यह संख्या कम नहीं है। ये आँकड़े इस तथ्य को धूमिल करते हैं कि भारतीय समाज का मुख्य आधार कृषि ही है। सामान्यतः इस कथन में उन मूल्यों तथा प्रचलनों को सम्मिलित नहीं किया गया है, जिनकी उत्पत्ति गाँवों से हुई है, और उनका संबंध उन कार्य-प्रवासियों से है जो वर्तमान में मौजूद हैं। कुछ समय पहले तक पंजाब और उत्तर प्रदेश में कृषक कहा करता था कि खेती सबसे अच्छा व्यवसाय है, आज यह कथन लुप्त हो गया है। कृषक नगरों में अपना पैर जमाना चाहते हैं। अपने गाँव में कार्य करने के बजाय वे शहरों और कस्बों में सफाई का काम करना अधिक पसंद करते हैं।

सांख्यिकीय सर्वेक्षण अथवा जनगणना के आँकड़ों में ऐसी वास्तविकताएँ परिलक्षित नहीं होती हैं। ये तथ्य उपयोगी और गम्भीर हैं, पर इनको समझना और इनकी गहराई की गम्भीर आंतरिक खोजबीन करना आवश्यक है। कई मामलों में असंतोष अथवा असंतुष्टि को समझना आवश्यक है। गाँवों में गहन जाँच-पड़ताल भी आवश्यक है। असंतोष या असंतुष्टि कई आधारों पर घटित होती है। भारतीय कृषि समय-समय पर एक आपदा से दूसरी आपदा के बीच गुजरती रही है। यदि मानसून अच्छा रहा है तो अच्छी फसल है, यदि नहीं है तो सूखा और अकाल पड़ता है। यदि फसलें अच्छी हैं तो और कीमतें गिरती हैं। यदि प्याज की कीमतें गिरती हैं तो उससे भी आंसू गिरते हैं। कृषि की दस्तकारी प्रवृत्ति, कृषि में संलग्न लोगों को खूँटे पर बाँधे रखती है। बिना इस जानकारी के कि अर्थव्यवस्था को कैसे ठीक किया जाये, सिवाय इसके कि आगे की प्रतीक्षा की जाती है।

हरित क्रांति वाले क्षेत्रों में भी, जहाँ अद्भुत रूप से मशीनीकरण और रसायन का प्रयोग बढ़ा है, मौसम के दुष्प्रभाव भी पड़ते हैं। मौसम की अनियमितता तथा नियमितता प्रभाव डालती है। अधिक या कम वर्षा असर डालती है। बीज की अनियमितता एक और कारण है जो खेती पर गहरा असर डालती है। यह एक संसाधनात्मक (infrastructural) प्रभाव है। लेकिन, फसल उत्पादन पर इसका विपरीत प्रभाव पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में ग्रामीण खेत छोड़ कर भाग जाते हैं, या अपनी बरबाद फसलों को निहारते हैं, या गाँव छोड़ कर नगरीय कामों में श्रमिक का कार्य करने लग जाते हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टि से, यद्यपि गाँव सिकुड़ रहे हैं, पर स्थान अथवा जगह की दृष्टि से विद्यमान हैं। भारत के ग्रामों में ऐसी अवस्था एक निराशा और हताशा के दुख की चर्चा का अभिकथन है। शहर की गंदी नालियों में परिस्थितिजन्य और अपराधजन्य अवस्थाएँ हैं। लेकिन, शहर में यह आशा-उत्साह भी है कि एक दिन परिस्थितियाँ बदलेंगी, और आज की परिस्थिति से आगे आने वाले दिन अच्छे होंगे।

आज कोई भी ग्रामीण कृषि करना नहीं चाहता है। बहुत सी ग्रामीण संस्थाएँ आंतरिक तौर पर पूर्णरूपेण प्रभावित हो रही हैं। संयुक्त परिवार प्रभावित हुए हैं, और जाति सोपान कमजोर हो रहा है। ग्रामीण जीवन में मिलजुल कर रहने का आकर्षण समाप्त प्रायः हो चुका है। पूर्व की तरह कुछ भी नहीं है। शायद कुछ सिमा तक ऐसी स्थिति पहले से ही मौजूद थी। आंबेडकर ने कहा है कि गाँव अवनति का एक गढ़ है, और भ्रष्टाचार ने उसे बहुत ही खराब बना दिया है। भूतकाल में ये प्रवृत्तियाँ हावी रहीं को चलने दिया, गरीब या धनी सभी के लिए ग्रामीण क्षेत्र से बाहर जीवनयापन कठिन था।

भारत ने गाँव की महत्ता को खो दिया है। अधिकांश ग्रामीणों के मस्तिष्क में अब पूर्व की तरह गाँव की महत्ता नहीं है। वह अब नहीं है, जिसका उल्लेख हमने पहले किया है। भारत में ग्रामीण महत्ता के पतन का कारण यह भी है कि नगरीय परिवेश को महत्ता दी जा रही है। एक कारण यह भी है कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था ने स्वयं को बनाये रखने की अपनी शक्ति खो दी है, क्योंकि स्वयं ग्रामीण ने अर्थव्यवस्था में अपने को स्थिर रखने की शक्ति को खो दिया है। परिणाम यह हुआ है कि ग्रामीण क्षेत्रों में सांस्कृतिक उछाल आया, और उसके कारण भूतकाल के बहुत से सांस्कृतिक प्रतिमानों नष्ट हो गये। जमींदारी उन्मूलन और वयस्क मताधिकार द्वारा (दोनों के सामंजस्य) पुराने संबंध आज काफी मुश्किल अवस्था में हैं। परंतु अभी तक मृत नहीं हैं। भूमि-सुधार तथा भूमि का पुनः वितरण द्वारा जो परिवर्तन नहीं हो सके, वे आज भूमि के उप-विभाजन द्वारा हो रहे हैं। आज बड़े भूमिपति कहां हैं? कुछ हैं, पर उनमें दूरियां बहुत हैं। पर क्या यह जनता में समतावाद ला सकता है? यह एक विकट प्रश्न है।

समाजशास्त्रियों को इस आर्थिक वस्तुस्थिति पर ध्यान देने की आवश्यकता है। बिना इस परीक्षण के विकास और योजना का कार्य मात्र औपचारिकता होगी। इससे आंतरिक कारणों का पता नहीं चल सकेगा। भू-स्वामियों की अपेक्षा भूमि मध्यम आकार के भूमिपतियों से अधिक प्रभावित हैं, चाहे वह आर्थिक आधार हो या सामाजिक जाति-व्यवस्था सकारात्मक रूप में अपना कार्य नहीं करती है।

ऐसी आर्थिक संरचना को समाजशास्त्रीय आयामों द्वारा समझने की आवश्यकता है। इस प्रयास के बिना विकासशील योजना मात्र एक औपचारिक अभ्यास होगी, और इसमें धरातल पर किसी प्रकार का सकारात्मक प्रभाव नहीं पड़ेगा। मध्यम-श्रेणी कृषक तथा स्वामी, भूमिहीन कृषक के विरुद्ध आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से अधिक कार्यशील होते हैं, जबकि जाति व्यवस्था की कठोरता अब इतनी कठोर नहीं है। जातियों की पारस्परिक ईर्ष्या और अस्मिता आसानी से मिटती नहीं है। जाति व्यवस्था के आधार, सामाजिक संबंधों के संदर्भ में यथावत हैं, और आजकल इन सूत्रों को सार्वजनिक सुविधाओं के साथ प्रभावी नहीं किया जा सकता। निम्न जातियों और गरीब लोगों को गाँव से बाहर निकलने पर मजबूर किया जाता है। गरीब की स्थिति ऐसी होती है कि वह गाँव छोड़ने के लिए तैयार हो जाता है।

जहाँ भूमि का खंडन (टुकड़ों में विभाजन) बढ़ गया है, वहाँ कृषि का सुपयोगी बनना बहुत कठिन हो गया है। योजनाकार इस तथ्य पर बहुत प्रसन्न होंगे, यदि कृषि उत्पादन निरंतर स्थायी रहे, और उसमें वृद्धि होती रहे। आवश्यकताओं और निराशाओं के संतुलन के प्रयास में चयनोपयुक्त तर्क सार्थक रहता है। ऐसे मामलों में निराशा उभरनी प्रारम्भ हो जाती है। संतुलन के प्रयास प्रारंभ होते हैं। ऐसे में उत्पादन के प्रयास में परिवार द्वारा श्रम तथा संयम आधार बने रहते हैं। परिवार की आवश्यकताओं में परिवर्तन आने पर कृषि वैसी नहीं रह जाती जैसे कि पहले थी। यह बात दूसरी है कि इस परिस्थिति में कृषि में स्वामी-कृषक का स्वरूप बदल जाता है। भूमिहीन कृषक द्वारा कृषि कार्य करवाया जाता है।

भू-धारक परिवार के सदस्य विभिन्न कार्यों में संलग्न हो जाते हैं। गाँव में ऐसे लोगों को अपना भविष्य उज्ज्वल नहीं दिखाई देता।

ग्रामीण भारत की अनुमानित व वर्तमान प्रचलित धारणाएं

भारत के गाँव बदल रहे हैं। 1950 के उत्तरार्ध में यह तथ्य स्वीकार किया गया था। मैकिम मैरियट की सम्पादित पुस्तक जो 1955 में प्रकाशित हुई थी, कई अध्ययनों (1955) में से एक थी। पुस्तक में यह संकेत दिया गया था कि भारतीय गाँव 'लघु लोकतंत्र' नहीं थे। कुछ विशिष्ट मानव शास्त्रियों ने संकेत दिया था कि हिंदू वृहद संस्कृति व गाँवों की लघु संस्कृतियों के बीच अंतरक्रिया द्वारा दोनों में परिवर्तन हुआ है। स्कारलेट एपस्टीन ने अपने दो गाँवों के अध्ययन में ग्राम तथा शहर के बीच के संबंधों की व्याख्या की थी। 1960 के अंत तथा 1970 के प्रारम्भ तक कृषि की महत्ता स्पष्ट थी। साथ ही कृषक-मजदूरों का महत्व भी अधिक नहीं था, यद्यपि उस समय तक कृषि में यांत्रिकी आधारों ने अपना स्थान बना लिया था। एपस्टीन (1973) के अनुसार, गैर-कृषि व्यवसायों का स्थान नहीं था। केवल कॉफी या चाय की दुकानें गाँवों में खोली जाने लगी थीं। यह प्रवृत्ति उन गाँवों में थी, जिनका अध्ययन किया गया था। यह भी पाया गया था कि इन गाँवों में निश्चित रूप से गरीबी का स्तर घटा था। यद्यपि, इस काल में, संपन्न किसान और अधिक संपन्न हुए थे, जिसका कारण उपयोगी गुड़ बाजार था, जो गाँवों में खुले थे। अन्यथा बाहर की दुनिया से गाँव कम ही प्रभावित हुए थे। सामान का क्रय बाहर से करते थे। इन दुकानों द्वारा जो भी खरीदा जाता था, वह बाहर से खरीदा जाता था, और गाँव में बेचा जाता था। वहाँ के विश्वविद्यालय के स्नातकों की भी कोई विशेष भूमिका नहीं थी। गाँव के मामलों में उनका कोई हस्तक्षेप नहीं था। एपस्टीन की टिप्पणी को छोड़ भी दें तो भी 40 साल पहले तक गाँव के आर्थिक आधार को उन्होंने कृषि के रूप में ही माना था। ऐसा लगता है कि उनके पहले और दूसरे अध्ययन के बीच के दस-पंद्रह वर्षों में गरीब किसानों की आर्थिक स्थिति अधिक खराब हुई, और गरीबी का स्तर भी अधिक बढ़ा।

गाँव प्रायः एक आदर्शात्मक स्थल समझा गया है, जिसमें लोग एक दूसरे के साथ समुदाय के रूप में बंधे होते हैं। ये गाँव लघु लोकतंत्र समझे जाते थे, और समय-हीन और अपरिवर्तनीय थे। इन अवधारणाओं के अनुसार, नगरों के कठोर जीवन के विपरीत, गाँवों में कोई बुराई नहीं थी, और शहर दूषित वातावरण से ग्रस्त थे। मेटकाफ और मिल्स इस मत के समर्थक थे। कार्ल मार्क्स, जो द्वंदात्मक आंदोलन के प्रवर्तक थे, वे भी इन्हीं विचारों के अनुयायी थे। ग्रामीण लोकतंत्र की अवधारणा सशक्त थी। ग्रामीण भारत की अवधारणा में यह सब कुछ निहित है। वंश आते हैं और जाते हैं, इच्छुक वंश और संभावी लोग युद्ध लड़ते हैं, लेकिन ग्रामीण जीवन संभवतः कभी भी विचलित नहीं होता (सोजन 1987, 2013)।

रोजाल इंद्रिय के अनुसार, उपनिवेशीय प्रशासन ने गाँवों को भारतीय सभ्यता का अणु माना है (इंद्रिय, 1990, 1311)। यह सब कुछ गाँधीजी के दर्शन में भी दिखाई देता है, और यथार्थ में भी ऐसा देखा जा सकता है। ग्रामीण जीवन के बहुत से दोषों और कमियों को उन्होंने देखा, लेकिन उन्होंने ग्रामों को पिछले जमाने के साथ जोड़ने की इच्छा भी व्यक्त की। यह उनकी राजनीतिक अभिलाषा भी थी।

जैसे-जैसे राष्ट्रीय आंदोलन आगे बढ़ता गया, गाँधीजी के विचार चुनौती से बच नहीं पाए। संभवतः उन्होंने ग्रामीण जीवन की कमियों को पहचान लिया था, लेकिन उन्होंने ग्रामीण जीवन के प्रारंभिक पक्षों को बनाए रखने पर ही जोर दिया है। राष्ट्रीय आंदोलन के आते-आते गाँधी चुनौती से बच नहीं पाये थे।

सहजानंद सरस्वती जैसे कृषक नेताओं ने ग्रामीण जीवन की कठोरता, कष्टों और कठिनाईयों की बात की थी। भू-स्वामी गरीब कृषकों का शोषण करते थे। गरीब किसानों की दुर्दशा और खेती से होने वाले अलाभदायक परिणामों की चर्चा (रसूल, 1974) भी की गई है। जजमानी प्रथा के संबंध में भी एक रोचक शैली में लिखा गया (वाइजर, 1936, बेडेलमैन, 1959) है। यद्यपि, निर्धारित आधारों पर निर्मित जातिगत संरचना स्थिर नहीं थी। एम एन श्रीनिवास का यह तर्क कि प्रमुख जातियों के लोग संरक्षक का कार्य करते थे, यह कथन (श्रीनिवास, 1987) विवादित रहा है। प्रमुख जातियों के लोग प्रभावशाली या संरक्षक थे (बेतई, 1980)। यद्यपि, उनकी आंतरिक संरचना पारस्परिक विरोधों से घिरी हुई थी (डयूमां, 1970)। जिस पर विवाद नहीं रहा वह था दिन-प्रतिदिन का जीवन, राजनीति और कर्मकांड, जो प्रमुख जातियों के इर्दगिर्द रचे हुये थे। सामाजिक मानव शास्त्र ने स्पष्टतः किसी प्रकार के रूमानी वर्णन का सहारा नहीं लिया, और न ही क्षेत्रीय दृष्टिकोण का अधिक सहारा लिया। 'पुस्तकीय दृष्टि' का सहारा भी नहीं लिया, बल्कि 'फील्ड व्यू' द्वारा यथार्थ को समझा। ग्रामीण समुदाय चाहे जिस प्रकार से परिभाषित किया गया हो, कभी भी समता के दृष्टिकोण से नहीं देखा गया। एम एन श्रीनिवास ने जातिगत सोपान को समझने में पहल की है। लेकिन कुछ समय पहले तक जिस प्रकार प्रभु-जाति की अवधारणा द्वारा असमानता परिभाषित की जाती थी, अब गाँव का चित्रण उस आधार पर नहीं किया जा सकता। (बोस, 1991), बंदोपाध्याय और एस्टोन (1991), हैरिस (1982), सहाय (2001), चक्रवर्ती (2001) और बहुत से अन्य लेखकों ने गाँव के कृषि वर्गों के बीच तनावों और सामाजिक संबंधों का अध्ययन किया है। ग्रामीण सामाजिक संबंधों का यह विश्लेषण दर्शाता है कि कुछ समय से ग्रामीण भारत शांत, आदर्श और आलसी प्रकृति का नहीं रहा है।

पारंपरिक रूप में, जाति तथा गाँव दोनों एक दूसरे के साथ जुड़े हुए थे। यदि गाँव में शांति थी तो कहा जाता था कि जाति व्यवस्था के द्वारा ऐसा संभव हुआ था। यही भावना थी जिसके आधार पर जजमानी प्रथा को समझा गया। प्रत्येक जाति का अपना विशिष्ट स्थान था, और हर जाति अपने आप को पवित्रता पर आधारित सोपान में एक स्थान पर स्थित समझती थी, और इस श्रेणीक्रम में ब्राह्मण सबसे ऊपर समझे जाते थे। अधिकांश विद्वजनों ने एक तथ्य को समझने में चूक की कि, जाति धरातलीय संस्तरण विचारधारा का परिणाम नहीं है अपितु, यह भूमि और संपत्ति के असमान वितरण का परिणाम थी। बंद कृषि अर्थव्यवस्था और संपत्ति व शक्ति के असमान वितरण के कारण जाति व्यवस्था रूपी परिणाम उत्पन्न हुआ था। यथार्थ यह है कि आज जाति-मूल्य अपने आप में और कर्मकांडी प्रवचनों में शक्तिशाली रूप में मौजूद हैं, और प्रत्येक अवसर पर स्पष्टतः दिखाई देते हैं। यह सब कुछ बंद अर्थव्यवस्था में होता है। यथार्थ है कि प्रत्येक जाति अपने को श्रेष्ठ तथा उच्च वर्ग का मानती है, कोई भी जाति यह विश्वास नहीं करती कि वह अशुद्ध है। जाति की उत्पत्ति के संबंध में मिथकीय कथाएँ यह स्पष्ट रूप से इंगित करती हैं। ऊँची जाति यथार्थ में प्रत्येक अवस्था में अपने को श्रेष्ठ स्वीकार करती है, पर निम्न जातियाँ हमेशा यही कहती हैं कि वे पहले ऊँची थीं। वे अपनी पराधीनता का उल्लेख करती हैं, और अब वे अपनी महानता का उल्लेख करती हैं। अब उनके पास आर्थिक तथा राजनीतिक शक्ति बढ़ने लगी है। सत्य यह है कि इस प्रकार के विचार पहले से मौजूद हैं। प्रमुख जातियों के प्रभाव के

कारण निम्न जातियों के लोग अपनी अपेक्षाओं की अभिव्यक्त नहीं कर सकती थी, क्योंकि बंद कृषि व्यवस्था विद्यमान थी। भारत में धीरे-धीरे जाति अधिक खुली तथा स्पष्ट बनती जा रही है। यही कारण है कि भारत में जाति की राजनीति अधिक खुल गई है, और जाति की राजनीति में सत्ता व प्रभाव का अधिक लेनदेन होने लगा है।

जाति की अस्मिता और जाति व्यवस्था

प्रभु-जातियों और ग्रामीण उच्च शक्तिशाली वर्गों के घटते प्रभुत्व के परिणामस्वरूप, गाँवों में सांस्कृतिक स्तर पर भी परिवर्तन हुये हैं। इन वर्गों का ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण था। उत्तर प्रदेश के सुलतानपुर का उदाहरण दिया जा सकता है, जहाँ आज पिछड़ी जातियाँ और अनुसूचित जातियाँ खुलकर अपनी भावनाओं की अभिव्यक्त करती हैं। बहुजन समाज पार्टी के प्रभाव क्षेत्र के संबंध में व्यापक रूप से लिखा गया है, और इस बारे में पुनः वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है (जैफरलो, 2003)। अनुसूचित जातियों द्वारा राजनीतिक इच्छा का प्रदर्शन, वर्तमान में अनुसूचित जातियों को आगे बढ़ाने के लिए है, क्योंकि संपन्न वर्ग अब गरीब किसानों पर अपना प्रभुत्व स्थापित नहीं कर सकते। भूमिहीन किसानों पर प्रभुत्व स्थापित करना इतना आसान नहीं है, और अब भूमिहीन लोगों को ये वर्ग नौकरी नहीं दे सकते, क्योंकि स्वयं भूमिपतियों के पास जमीन की मात्रा में कमी हो रही है। समय के साथ भूमिस्वामियों की स्वयं की जमीनों का आकार घट रहा है। भूमिस्वामियों, संरक्षकों तथा राजनीतिक नेतृत्व का प्रभाव भी घट रहा है।

एक अन्य बदलती परिस्थिति पर भी ध्यान देना आवश्यक है, वह यह है कि अब सबआल्टर्न (subaltern) उन लोगों के प्रति प्रतीकात्मक प्रतिरोध दर्ज करवाते हैं, जो एक पीढ़ी पहले तक बिना किसी चुनौती के श्रेष्ठ माने जाते थे। पंजाब में चमारों ने अपने को आदिधर्मा कहना प्रारम्भ कर दिया है (जोधका, 2002)। बिना सिख धर्म की स्वीकृति के उन्होंने स्वयं के अपने गुरुद्वारे स्थापित करने प्रारम्भ कर दिए हैं। वे उन गुरुद्वारों में नहीं जाते जिन पर आधिपत्य जट सिखों का है। अपने गुरुद्वारों में उन्होंने संत रविदास को स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया है। ऐसे आदिधर्मियों ने पगड़ी बाँधना बंद कर दिया है। उनके अभिभावकों ने दाढ़ी रखना बंद कर दिया है। लेकिन ऐसे कदम बहुत पहले नहीं उठाये गए थे। जालंधर में तलहान रामगढ़ी लोग (खाती) आदिधर्म समुदाय में सम्मिलित हो गये हैं। जाट सिखों में अवतारित होना भी प्रारम्भ किया, परन्तु इस कदम को रोकने में वे असमर्थ थे। सच तो यह है तलहान में एक-तिहाई आदिधर्म परिवार हैं। इनके सदस्य विदेश में रह रहे हैं। तलहान गाँव में तीन ब्यूटी सलून भी हैं। यह सब कुछ समृद्धि का प्रतीक है, और इस बात का भी संकेत है कि बिना जाट संरक्षक के आदिधर्मा सबकुछ अपने बूते पर कर सकते हैं। वर्तमान भारत के बहुत से हिस्सों में ऐसे आंदोलन उठ खड़े हुए हैं जिनका संबंध कृषकों की समस्याओं से है। बिहार और आंध्र प्रदेश के कुछ हिस्सों को छोड़ कर, कृषि-श्रमिकों को कहीं भी राजनीतिक सफलता नहीं मिली। कुछ इलाकों में यह स्पष्ट नहीं है कि यथार्थ में लोग किस विचारधारा के हैं? क्या वे माओवादी हैं?

1980 के दशक में, यह स्पष्ट हो गया था कि गाँव की अर्थव्यवस्था में भूमिहीन श्रमिकों का कोई प्रभावी आधार नहीं है, क्योंकि अधिकांश जमीन विशिष्ट परिवारों द्वारा जोती जाती है। जब फसल का काम चरम सीमा पर होता है तब खेत मजदूरों की आवश्यकता पड़ती है। अब वामपंथी श्रमिक

संगठन सक्रिय नहीं रहे। पहले की अपेक्षा, वर्तमान में ग्रामीण अर्थव्यवस्था में मजदूर-किसानों की कम आवश्यकता है। हरित क्रांति, जिसने पर्याप्त मात्रा में समृद्धि तथा उत्पादन को प्रभावित किया है, कृषि श्रमिक की आवश्यकता घटी है। पंजाब और हरियाणा में उन लोगों से मजदूरी करवाई जाती है, जो पूर्वी भारत से रोजगार की तलाश में आते हैं। पूँजीपति किसानों के यहाँ मजहबी सिख कृषि-मजदूरी करते हैं, जो पूर्व में सफाई का कार्य करते थे। मजहबी सिख आर्थिक दृष्टि से कमजोर हैं, परंतु सम्पन्न किसानों की धौंस नहीं सहते।

स्थानीय स्तर पर, धीरे-धीरे बड़े आकार के खेतों में यांत्रिकीकरण के कारण मजदूरों की आवश्यकता कम होने लगी है। शहर की श्रेष्ठता और संपन्नता के बढ़ने के साथ, पूँजीपति किसानों में नौकरी प्राप्त करने के लिए आकांक्षा बढ़ी है। कम मजदूरों की आवश्यकता ने प्रवासी मजदूरों के लिए रास्ता बना दिया। ऐसे मजदूर अपने घरों से दूर पंजाब में कार्य करने आते हैं।

ऐसा बहुत से क्षेत्रों (विशेषतः पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश) में हुआ है। यह भी एक तथ्य है कि जो लोग पूर्व में कृषि-मजदूर के रूप में काम कर रहे थे, वे अब उस तरह से काम करने को तैयार नहीं हैं। हमने पूर्व में उल्लेख किया है कि उत्तर प्रदेश और पंजाब में अनुसूचित जातियों और आदिधर्मियों ने कमोबेश मन बना लिया है कि वे अन्य लोगों के खेतों पर काम करने के इच्छुक नहीं हैं। यदि उनको शहर में अन्य कार्य मिल जाता है तो वे दूसरे के खेतों पर श्रम का कार्य नहीं करना चाहते। यहाँ तक कि वे कुली या रिक्शा चलाने का काम भी करना चाहेंगे। 1980 तक कृषक-श्रमिक पलायन करने लग गये थे। कृषि-श्रमिकों की उपस्थिति धीरे-धीरे कम हो गई थी। उस समय तक बड़े कृषि संगठन बन चुके थे। अब महेंद्र सिंह टिकैत द्वारा संचालित आंदोलन उच्च वर्गीय किसानों के हितों की रक्षा में संघटित होने लगा था। आंदोलन में यह साफ-साफ कहा गया था कि जिन किसानों के पास जमीन नहीं है, वे वास्तव में किसान नहीं हैं, अब कृषक-श्रमिकों के लिए आवश्यक रूप से कृषि-मजदूर बनने का कोई अधिकार नहीं है।

उत्तर प्रदेश का भारतीय किसान आंदोलन, जो हरियाणा में भी जीवंत था, दोनों प्रदेशों के नेताओं में दोनों का पारस्परिक गठबंधन था। जैसे-जैसे कृषि मालिक बेचैन हो रहे थे, एक नई आकृति उभरनी प्रारम्भ हो गई थी, जिसका संबंध ग्रामीण राजनीति से था। ग्रामीण असंतोष के संबंध में पहले कृषि-मजदूर कुछ महत्त्व रखते थे। उस समय जमींदार, जोतदार और कृषि-दावेदार द्वारा कृषि के इस्तेमाल और महत्त्व के बढ़ने के साथ, आन्दोलन का विस्तार हुआ। कृषक आंदोलनों में लघु कृषक लुप्त थे। सरकार भी इन आंदोलनों के विरोध में थी। जनता को प्रभावित करने के प्रयास भी किये गये।

जिन जिलों में आदिधर्मी लोग प्रभावी नहीं हैं, जैसे जालंधर में, और जहाँ पर वे प्रभावी हैं, जैसे तारणतरण में, वहाँ वे मलिन व कृषि-श्रमिक का कार्य करने से मना कर देते हैं। वे ऐसे कार्यों को शर्मनाक मानते हैं। वे जाट जमींदारों और जाटों के सामने झुकना पसन्द नहीं करते। मजहबी सिख, परम्परा के अनुसार सफाईकर्ता थे। आदिधर्मियों में से बहुत से लोगों के पास अपने गुरुद्वारे हैं। जाटों द्वारा स्थापित गुरुद्वारों में वे अपने आपको शर्मिदा महसूस करते हैं। फिर भी, उन्होंने प्रतीकात्मक आधार पर भी जाट संस्कृति तथा पुरातन प्रथा से अपना संबंध तोड़ा नहीं है। लेकिन, वे गैर-कृषि गाँव में ही कार्य करना पसन्द करते हैं। आदिधर्मी और मजहबी लोग किसी जाट के खेत में साथ-साथ काम करना पसंद नहीं करते, और प्रयास यही करते हैं कि उनको कहीं नौकरी मिल जाये। नौकरी की मजदूरी तय रहती है। अतः श्रमिक से अधिक उचित रिक्शा खींचने का कार्य पसंद करते हैं। एक मजहबी सिख ने कहा कि दिन के अंत में मुझे

मालूम पड़ जाता है कि एक दैनिक श्रमिक या रिक्शा चालक के रूप में, मैं अपने घर कितना पारिश्रमिक ले जा रहा हूँ, परन्तु कृषि-श्रमिक के तौर पर मुझे यकीन नहीं है कि मुझे कितना मिलेगा, और वह कब मिलेगा। मकान बनाने का काम या रिक्शा ढोने के काम में गरीब लोग अपने आपको अधिक सुरक्षित पाते हैं।

यह एक जानी-पहचानी कहानी है, और भारत के अलग-अलग भागों में अलग-अलग तरीके से कही जाती है। उत्तर प्रदेश में, जाटव कृषि-श्रमिक का कार्य नहीं करते। उनका स्थान बाल्मीकियों ने ले लिया है। फिर भी, ऐसा नहीं लगता कि बाल्मीकि अधिक समय तक यह कार्य करेंगे। उत्तर प्रदेश में सहारनपुर जिले के बेहरिची गाँव में ज़मींदार त्यागियों के साथ विवाद होने के कारण बहुत से बाल्मीकि अपना व्यवसाय तथा गाँव छोड़ चुके हैं। पंजाब के जाट सिखों की तरह, उनको भी निम्न जातियों के विरुद्ध अनेक शिकायतें हैं, जिनमें से कुछ को वे निम्न और अछूत समझते हैं। त्यागी अपने शिव मन्दिरों में अनुसूचित जाति के सदस्यों को नहीं घुसने देते। उनकी पूजा में फ़िल्मों में गाए हुये भजन सम्मिलित हैं, जिनका चयन लोकप्रिय हिन्दी फ़िल्मों से किया गया है। महाराष्ट्र में शिक्षित तथा सु-संस्कृत महारों ने अपना पारंपरिक काम छोड़ दिया है, और अन्य प्रकार की नौकरियां करने लगे हैं। इसी प्रकार का इतिहास तमिलनाडु में दुहराया गया है। चक्कविचार (अरून्तादियार) और परियार (आदि द्रविड़) और पल्लार (देवेन्द्रकुला वस्लाला) स्थानीय प्रमुख जातियों का आदर नहीं करती। हाल के वर्षों में, प्रतिरोध के स्वर बढे हैं, और ऐसा उन्होंने अम्बेडकर की मूर्तियों की स्थापना के माध्यम से किया है। इसका गोदर ज़मींदार विरोध करते हैं। अरून्थोदियार लोग काफी गतिशील हैं, और गोदर की जमीन पर काम करने की इच्छा के बजाय, गैर-कृषि कामों को करना पसन्द करते हैं।

जाति की अस्मिता को अब हर स्तर पर पुनर्जागृत किया जा रहा है। यह भी सत्य है कि गरीब जाति के लोग दबी आवाज में जाति की अस्मिता प्रकट करते हैं। परन्तु, प्रत्येक जाति परम्परा से जुड़ी अपनी साख को उजागर कर उच्च प्रस्थिति के दावे करती है। जाति व्यवस्था अब टूट गई है, परन्तु जातीय अस्मिता को बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया जा रहा है। इस प्रवृत्ति के कारण, यह भ्रांति उत्पन्न हो रही है कि जाति व्यवस्था पुर्नजीवित हो रही है। जाति की पहचान अब अनेक तरीकों से विस्तृत की जा रही है। बंद अर्थव्यवस्था प्रभुजातियों के कुछ चुने हुए लोगों के हाथ में थी, परन्तु सिख जातियों में ऐसा नहीं था। उत्पत्ति की अपनी मिथकीय धारणाओं से, जो श्रेष्ठ जातियों द्वारा कहीं कही जाती थीं, वे अपनी श्रेष्ठता का प्रमाण देती थीं। क्योंकि, अब ज़मींदारी या श्रेष्ठ जातियाँ आर्थिक परिवेश में ऊँची उठ चुकी हैं, पूर्व के अस्पृश्य श्रमिकों को नये अवसर मिल गये हैं, जिससे वे अपनी उत्पत्ति में मिथकों और पहचान के संबंध में बिना किसी बदले की भावना के अपने स्थान को खिसका सकते हैं, परन्तु कुछ क्षेत्र अभी भी ऐसे हैं जिनमें ज़मींदार जातियाँ प्रभावी हैं। लेकिन, यह साफ-साफ दिखाई देता है कि परिवर्तन की प्रवृत्ति उनके विरुद्ध है।

कृषक आन्दोलन

ग्रामीण आंदोलन आज ज़मींदारों और कृषि श्रमिकों के बीच वैसे नहीं है, जैसे कि पहले 1970 के दशक तक हुआ करते थे। वामपंथ से जुड़े हुए कई संगठन थे, जो भूमिहीन श्रमिकों और गरीबों के लिए और बटाईदारों के लिए संघर्ष करते थे। वर्तमान समय में वैसे संगठन सक्रिय नहीं हैं। बिहार और

आंध्र प्रदेश के कुछ स्थानों के अलावा अन्यत्र कृषक मजदूरों के लिए आवाज नहीं उठाई जाती है। इन क्षेत्रों में (बिहार, आंध्र प्रदेश) में यह भी जानना होगा कि कितने लोग माओवादी-नक्सलवादी हैं। इनके आन्दोलनों में कृषक-श्रमिक और गरीब ग्रामीण के प्रश्न मुख्य नहीं हैं।

1980 के दशक तक यह स्पष्ट हो गया था कि कृषि-विहीन श्रमिकों के लिए ग्रामीण अर्थव्यवस्था में कोई जगह नहीं बची थी। परिवार आधारित कृषि ने श्रमिक की आवश्यकता को समाप्त कर दिया। पंजाब और हरियाणा के हरित क्रांति क्षेत्रों में पूर्वी भारत के श्रमिकों को रोजगार दिया जाने लगा। स्थानीय श्रमिक कम होने लगे। मशीनीकरण के परिणामस्वरूप पूंजीपति भू-मालिक भी कम श्रमिकों से कृषि करवाने लगे। धनी लोग गाँव से बाहर शहरों में पलायन करने लगे। एक ओर जहाँ कृषि मुख्य मुद्दा थी, परन्तु गाँव और शहर के बीच संपर्क एक नई कड़ी बन चुके थे (गुप्ता, 1997)। स्वामी-कृषकों ने इसी दौर में नगरीय नौकरियों में आरक्षण के प्रश्न को उठाया। शिक्षण संस्थाओं के लिए भी उन्होंने यही मांग की। 1990 में, इन जातियों के साथ नगरीय नौकरी के इच्छुकों ने भी इनका साथ देना शुरू कर दिया। गुर्जर और यादव ऐसी ही जातियाँ थीं। शहर की नौकरी एक प्रकार से इन जातियों के लिए पुरस्कार था। अब तक पीढ़ी-दर-पीढ़ी कृषि अथवा ज़मींदार ही गौरव का प्रतीक माना जाता था। यही प्रमुख और अंतिम इच्छा थी। उत्तर प्रदेश में एक काव्य की कुछ पंक्तियाँ इस भावना को प्रदर्शित करती हैं। प्रसिद्ध उर्दू कवि घाघ ने एक कविता में यह लिखा है कि 'उत्तम खेती, मध्यम बाण, निषिद्ध चाकरी, भीख निदानम'। इसका अर्थ है— कृषि सर्वश्रेष्ठ है। इसके बाद व्यापार और वेतनीय नौकरी, और भीख सबसे खराब कार्य है। बाद में, इन पंक्तियों का एक संशोधित स्वरूप आया। उत्तम चाकरी, मध्यम बाण, निकृष्ट कृषि, भीख महान। इस मामले में, राजनेता वोटों के लिए भीख मांगते हैं, जो सर्वश्रेष्ठ है, इसके बाद वेतनभोगी है, और सबसे निम्न किसान है।

स्वामी-कृषक का सीमान्त संसार

यह कहना कठिन है कि गाँव से सांस्कृतिक मोहभंग कब हुआ, फिर भी यह कह सकते हैं कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था में ठहराव इसका प्रमुख कारण है। यह बात उद्योग और कृषि की वृद्धि की दरों से तो दिखाई देती ही है, इसका एहसास हर प्रकार के ग्रामीण श्रमिकों में स्पष्ट परिवर्तन से भी मालूम होता है।

भारत अब मात्र एक कृषिपरक अर्थव्यवस्था नहीं है। कृषि पर निर्भरता 1970-71 में 73.37 प्रतिशत थी (चड्डा, 2003), जो अब 54.71 प्रतिशत रह गई। जी. पार्थसारथी (1998) ने कहा है कि भारत में श्रमिक वर्ग में परिवर्तनों और अर्थव्यवस्था की उत्पादन संरचना में तालमेल नहीं है। नेशनल सैंपल सर्वे के अनुसार, 1987-88 और 1993-94 के बीच नगरीय भारत में ग्रामीण पृष्ठभूमि के श्रमिकों की संख्या दुगुनी हो गई है। कृषि में 1980 के दशक की तुलना में 1990 के दशक में जीडीपी वृद्धि 3.5 प्रतिशत से घट कर 2.8 प्रतिशत रह गई। 1999-2000 में यह मात्र 1.3 प्रतिशत हो गई। शहरों में आय अधिक है, इसके कारण गाँव व शहर के लोगों के बीच असमानता बढ़ रही है। 1975-76 में गाँव के लोगों की तुलना में शहर के लोगों की आय 1.82 गुणा अधिक थी, और आज

2.1 गुणा अधिक है (प्रधान व अन्य, 2000) शहरों में असमानता में बढ़ोत्तरी दिखाई देती है, परन्तु गाँवों में शहरों की तुलना में गरीबी बहुत अधिक है (वैद्यनाथन, 2001)।

चूँकि, अधिक लोग गाँवों में रहते हैं, इसका अभिप्राय यह नहीं है कि भारत की राष्ट्रीय संस्कृति गाँव द्वारा निर्धारित होती है। अधिकतर राजनीतिक संवादों में गाँव की झलक नहीं दिखाई देती है। यह भी सत्य है कि अधिक राजनेता संसद और विधानसभाओं में ग्रामीण पृष्ठभूमि के हैं। कभी-कभी महेन्द्र सिंह टिकैत या ननजूदा स्वामी जैसे व्यक्ति गाँवों के मुद्दों को उठाते हैं, लेकिन राष्ट्रीय पार्टियों की राजनीतिक विचारधाराओं में ग्रामीण मुद्दों का समावेश नहीं दिखाई देता है। मात्र आर्थिक मदद, न्यूनतम मूल्य (कृषि उत्पाद के लिए) आदि का उल्लेख रहता है। राजनीतिक विचारधाराओं में गाँवों के बारे में सोच नगण्य रहता है। लालू यादव और मुलायम सिंह यादव सरीखे राजनेता भी गाँवों के बारे में मौन पाए गए हैं। जाति के गणित द्वारा गाँव के चरित्र को चरितार्थ नहीं कर सकते।

फिर भी, अनेक स्वामी-कृषकों की सोच है कि कर में रियायत से उन्हें कोई लाभ नहीं मिलेगा, क्योंकि उनकी आय, आयकर के लिए निर्धारित आय से कम रहती है। यह प्रावधान व्यवसायी-कृषकों और शहरी कृषकों के लिए हितकारी है जो कृषि उत्पादन पर कर भार से बचना चाहते हैं, या उनके लिए लाभदायक है जो पशु पालन और मुर्गी पालन आदि के व्यवसाय में कार्यरत हैं। कृषि पर कर के बोझ से राजनीतिक और आर्थिक अस्थिरता भी आ सकती है, और स्वामी-कृषक बर्बाद हो सकते हैं। शेतकारी संगठन के अग्रणी शरद जोशी जैसे नेताओं की सोच है कि किसानों के लिए बाज़ार पूर्णतः खुला होना चाहिए। दीपाकर गुप्ता इस बारे में सावधानी रखने का सुझाव दे रहे हैं, क्योंकि किसान का हिसाब-किताब ढीला रहता है। भारतीय किसान पश्चिम के देशों के किसान से प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकता। भारत में कृषि-उद्योग जैसी व्यवस्था नहीं है, जैसे पश्चिम में है। बाज़ार के भरोसे भारत में कृषि को खुला नहीं छोड़ सकते।

स्वामी-कृषकों को राजनीतिक संरक्षण तो प्राप्त है, परन्तु उनका भविष्य नियोजित नहीं है। वर्ष 2000 में, राष्ट्रीय कृषि नीति (एन.ए.पी) द्वारा कृषि को अलाभदायक व्यवसाय करार दिया गया है। इसके सुधार के लिए बहुआयामी कदम उठाने की सिफारिश भी की गई है। कृषि में सुधार के लिए, बागवानी, फूलों की खेती, सुगंधित व औषधिपरक पौधों की खेती, पशुपालन और मछलीपालन आदि को प्रोत्साहन देने का सुझाव दिया गया है। कागज पर तो ये सुझाव अच्छे लगते हैं, परन्तु इनको लागू करने में संसाधनात्मक बाधाओं को दूर करना कठिन कार्य है। परिवार-आधारित श्रम पर निर्भर कृषक खेती में भारी निवेश नहीं कर सकते। आंध्र प्रदेश और पंजाब में ऐसी खेती आत्महत्याओं का मुख्य कारण है। ऐसा महत्वाकांक्षी किसानों के साथ हुआ है जो एकदम से धरातलीय आपदाओं के कारण अपने उद्देश्य में कामयाब नहीं हो सके। गाँव में यातायात के साधनों, कोल्ड स्टोरेज, भंडारण और बाज़ार के अभाव के कारण भी आत्महत्याएँ हो रही हैं।

इस प्रकार कह सकते हैं कि अनाज के अलावा अन्य उत्पादों से गाँव की उत्पादन प्रक्रिया को सुधारा नहीं जा सकता। गैर-अनाज उत्पाद, अनाज उत्पादन को यदि कमजोर करते हैं तो गाँव में स्थिति बिगड़ सकती है। यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि अधिकतर लोग गाँव में रहते हैं, फिर भी आज राष्ट्रीय संस्कृति पर गाँव का प्रभाव नगण्य है।

ग्रामीण गैर-कृषि द्वारा रोजगार

संभवतः रूपान्तरण का सबसे जोरदार पक्ष ग्रामीण संस्कृति का है, जिसे ग्रामीण गैर-कृषि रोजगार से जाना जा सकता है। वर्ष 1983 तक 12 राज्य ऐसे थे जिनमें गैर-कृषि कामकाज (रूरल नॉन-फार्म एम्प्लॉयमेंट) पाया जाता था। गाँवों में 20 प्रतिशत से कम लोग गैर-कृषि कार्यों में व्यस्त थे। मुख्यतः पंजाब, महाराष्ट्र और गुजरात इसमें अग्रणी थे। 1993-94 में हुए एनएसएस से प्राप्त आँकड़े यह सुझाते हैं कि 57वें सर्वे में जम्मू और कश्मीर, पंजाब, हिमाचल प्रदेश, बिहार में 40 प्रतिशत घर गैर-कृषि घर हैं। ये आँकड़े मूलतः चौकाने वाले हैं। इनसे कोई बड़ा निष्कर्ष नहीं निकलता, सिवाय इसके कि कुछ तथ्य मालूम होते हैं। सारे देश में ऐसे कार्य पाए जाते हैं, लेकिन ग्रामीण सम्पन्नता का इसमें कोई विशेष योगदान नहीं है। इसका कारण यह है कि 1999-2000 के सर्वेक्षण में गुजरात और महाराष्ट्र में ऐसे कार्य 20 प्रतिशत से कम रह गये थे। इन राज्यों का स्थान ओडिसा, राजस्थान और उत्तर प्रदेश से भी कम था। लेकिन, पंजाब में इसका स्वरूप 1983 में 17.4 प्रतिशत से 22.3 प्रतिशत तक बढ़ गया। 1999-2000 में यह 30 प्रतिशत हो गया। 2000-02 में, 57वें सर्वे में यह प्रतिशत 35.2 प्रतिशत हो गया। इसका अर्थ यह है कि लगभग 30 प्रतिशत पुरुष कामकाजी कृषि में नहीं, अपितु अन्य प्रकार के कामकाजों में कार्य कर रहे हैं। हिमाचल प्रदेश में ये आँकड़े नाटकीय ढंग से बढ़े हैं (चंद्रा 2003, 55)। एक दूसरी दृष्टि से भी गैर-कृषि रोजगार का परीक्षण कर सकते हैं। एक तथ्य यह भी है कि ग्रामीण भारत में अब पुरुष खेतों में काम करना बंद कर रहे हैं। जो लोग दूसरे कामकाज कर रहे हैं, उनमें से अधिकांश पारिश्रमिक श्रमिक के रूप में काम कर रहे हैं, और इसके साथ अन्य कार्य भी कर रहे हैं। ग्रामीण शुद्ध उत्पादन के संदर्भ में, लगभग 35.59 प्रतिशत सेवा क्षेत्र में गैर-कृषि उत्पादन कार्य के साथ जुड़े हुए हैं।

लेकिन, यह अवश्य है कि गैर-कृषि कामकाजी कार्यों में संख्या बढ़ रही है। हम यह मानते हैं कि कृषक-मजदूर घट रहे हैं, लेकिन साथ ही इच्छाएं भी बढ़ रही हैं। यह सच है कि ऐसी गतिविधियाँ भी बढ़ रही हैं, जिनका संयोग केवल एक ही फसल होने के कारण स्थापित हुआ है। इस कारण, गैर-कृषि कार्यों में बढ़ोतरी हुई है। यह तर्क पंजाब और हरियाणा के संदर्भ में स्वीकार किया जा सकता है। प्रश्न यह है कि आँकड़े इस प्रकार से भिन्न क्यों हैं? लेकिन, ये आँकड़े दर्शाते हैं कि कुछ सीमा तक असम तथा महाराष्ट्र में गैर-कृषि रोजगार कम क्यों है।

यह भी तर्क दिया गया है कि ऐसे कामकाज तनाव और दबाव के सूचक हैं। इसके विपरीत, ऐसे भी उदाहरण और दृष्टान्त हैं कि ग्रामीण बेकारी का संबंध कृषि-वृद्धि की ऊंची दर के होते हुए भी है। ऐसी परिस्थितियों में लोग काम की तलाश करते हैं, और उनके रास्ते में चाहे जो हो, वे काम करते हैं (पार्थसारथी एवं अन्य, 1998)।

सिमन्स और सुपरी (1995) ने अपने शोध में किसान और अन्य कामकाज करने वालों के बीच के संबंध की व्याख्या की है। 88 प्रतिशत ऐसे लोग हैं जो अन्य काम कर रहे हैं, और उनके पास दस एकड़ से भी कम जमीन है। ऐसे लोग अधिक तनाव तथा असंतोष से ग्रस्त हैं। निश्चित ही जो लोग किसानों का काम नहीं कर रहे थे, वे अधिक तनाव और संतप्त अवस्था में थे। लेकिन, यह भी स्पष्ट है कि जिनके पास दस एकड़ जमीन से कम मात्रा में जमीन थी, वे भी तनाव और संतप्त अवस्था में थे।

दीपांकर गुप्ता के अनुसंधान से प्रकट होता है कि पंजाब और पश्चिम उत्तर प्रदेश के गाँवों में सभी जातियाँ गैर-कृषि कार्यों में लिप्त हैं। जालंधर में सभी आदिधर्मियों के पास एसटीडी बूथ, खाने-पीने की चीजों की दुकानें, और फुटबालों की सिलाई व मरम्मत की दुकानें हैं। तरनतारण जिले के रतारा गाँव में जाट लोग दर्जी का काम करते हैं (आबो और सिंह, 1971)। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के गाँवों में भूस्वामी जातियाँ, भूमिहीन लोग, अन्य भूमिहीन किसान जातियाँ गैर-कृषि कामों में अधिक संलग्न हैं। सहारनपुर जिले के बेहरची और बलिया जिले के बैजलपुर गाँवों में बहुत कम ठाकुर अन्य कामकाजों में जुटे हुए हैं, परन्तु गैर-भूमिविहीन जातियों के लोग व्यवसाय के लिए ट्रक और टैक्सी खरीद रहे हैं।

यह स्पष्ट होता है कि उत्तर-पश्चिम भारत की अपेक्षा पूर्वी भारत के गाँव कम गतिशील हैं। उनके अपने मूल्य स्थिर हैं, और पारस्परिक द्वेष भी व्याप्त हैं। साथ ही गाँव के प्रति लगाव की कमी है। भूस्वामियों की अपेक्षा अन्य लोग अधिक सक्रिय हैं। ग्रामीण जीवन के प्रति उनमें लगाव नहीं है, वे गाँव छोड़ना चाहते हैं, गाँव छोड़ कर चले जाना चाहते हैं, पर गाँव में खेती नहीं करना चाहते। ये उनके स्पष्ट इरादे हैं। विभिन्न जातियों के लोग गाँव की बाहरी काम-संरचना में सम्मिलित होकर अन्य कार्य करना चाहते हैं। विभिन्न जातियों के लोगों की एक ही समान इच्छा है कि वे अन्य कार्य करें। इससे बड़ी बात है कि अनुसूचित जातियों की भी ऐसी ही इच्छाएँ हैं। प्रभुजातियों का उनके साथ व्यवहार बदल गया है। पारंपरिक रूप से निर्धारित छोटे-छोटे कामों को करते हैं, और जिनको करना पसन्द नहीं करते हैं।

उत्तर प्रदेश जैसे राज्य में लोग कृषि-कार्यों से मुक्त नहीं होना चाहते, परन्तु, उनमें से कुछ हैं जो निश्चय कर चुके हैं कि वे कृषि-कार्य को छोड़ेंगे। यह सामान्य प्रवृत्ति नहीं है। फिर भी, यह कहा जा सकता है कि गैर-कृषि कार्यों का संबंध, जाति-रिश्तेदारी, आर्थिक गतिशीलता, और नौकरी के स्तर से जुड़ा है। खेती के अतिरिक्त अन्य काम भी खुले हुए हैं। स्थानीय कृषकों को काम के लिए प्रेरित करते हैं, और इसीलिए लोग गाँव से बाहर पलायन भी कर जाते हैं। यह भी सोचा जाता है कि कम वेतन मिले तो भी काम कर सकते हैं। यदि वेतन या मजदूरी स्थानीय स्तर से अधिक है तो अन्य कार्य किये जा सकते हैं। यदि काम पड़ोस में है तो उसका लाभ भी उठाया जा सकता है, यह पहली प्राथमिकता है। पार्थसारथी (1998) के अनुसार, नगरीकरण की प्रवृत्ति का रोजगार पर प्रभाव नहीं पड़ता। निश्चित ही, यदि कृषि-आय सक्रिय होती है तब संभवतः नगरीय नौकरी के प्रति आकर्षण कम होता है, लेकिन निर्णय इस बात पर भी निर्भर करता है कि विशुद्ध नगरीय वातावरण में कितना अधिक कष्ट रहता है। विसारिया (1995) और रूथवन और कुमार (2002) ने सार्वजनिक उपयोगिता को मद्देनजर रखकर अन्य कामकाजों की समीक्षा की है। उत्तर प्रदेश में वृहद् स्तर पर गाँवों का अध्ययन कर, पानी, गैस और बीज की उपादेयता का जिक्र किया है, जिसके होने पर अन्य कामों के संदर्भ बढ़ जाते हैं। जहाँ बाहरी लोग ज्यादा हैं, वहाँ पर अन्य कामकाज भी अधिक हैं। अच्छा वेतन भी अन्य कामों के लिए आकर्षण है। जब ऐसा होता है तो खेत, खेत-श्रमिक, और गाँव में अन्य काम करने वालों की संख्या बढ़ जाती है।

अंत में यह कहा जा सकता है कि सभी गैर-कृषि के काम गाँवों में साथ-साथ पाए जाते हैं। लेकिन, गाँव से बाहर कार्यों से खेती के कामों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस सत्य को जनगणना में लगे लोग भांप नहीं पाए हैं, इसलिए जनगणना के आँकड़े बहुत विश्वसनीय हैं। एक अन्य लेख में दीपांकर गुप्ता (1997) ने इस ओर संकेत किया है कि बहुत से भूमिहीन लोग दिन भर शहरों और कस्बों में काम

करते हैं, और रात में गाँवों में लौटते हैं, या साप्ताहिक छुट्टी में आते हैं। गाँव में अन्य कामकाज परिवर्तन के प्रतीक हो सकते हैं, जिनमें से कुछ को इस लेख में दर्शाया गया है।

लुप्त होते गाँव

बहुत से सूचकों से प्रतीत होता है कि ग्रामीण संस्कृति अब द्रुतगति से बदल रही है। विशेष प्रकार के कामों से जुड़े निषेध अब लुप्त हो रहे हैं। जाति व्यवस्था अब उस तरह से प्रभावी नहीं है, परन्तु जाति अस्मिता और जाति अभिमान प्रभावी हैं। जाति पहचान और जाति के गौरव पर बल दिया जाता है। अस्पृश्यता अब नाममात्र के लिए प्रचलित है। कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जिनमें जाति आंतरिक रूप से महत्वपूर्ण है। अब सम्पन्न किसान गाँव के बाहर अपना भविष्य ढूँढ़ते हैं, गाँव में वे संतुष्ट नहीं हैं। उनमें से अधिकांश लोगों ने सरकार के विरुद्ध नाराजगी प्रकट की है कि उन लोगों को अच्छी सुविधायें प्रदान नहीं की गई हैं।

प्रत्यक्षतः धनी कृषकों ने गाँवों में मजबूत राजनीतिक आधार तैयार किया है, और वे प्रायः शहरों में रहते हैं, और अपने ग्रामीण क्षेत्रों में नगरीय दृष्टि से कार्य करते हैं। धनी ग्रामीण लोग अपना भविष्य गाँव के बाहर ही ढूँढ़ते हैं।

इस पृष्ठभूमि में कृषि से प्रभावित संस्कृति को समझना होगा। यह संस्कृति स्थिर नहीं है। इतिहास द्वारा एक निरंतर विरासत नहीं मिली है, और न ही ग्रामीण सुसंस्कृति का वर्तमान सामाजिक संरचना पर प्रभाव है। कृषि एक अंतिम व बचा-खुचा आर्थिक साधन है, जिसे असफल लोग असंतोष के साथ अपनाते हैं। ग्रामीण रक्तविहीन है, क्योंकि ग्रामीण अर्थव्यवस्था जीवन-विहीन है। प्रवृत्ति गाँव को त्यागने की है। यही हो रहा है, और ऐसी ही होता रहेगा।

यह सब अचंभित करने वाली चुनौती हो सकती है, परन्तु भारत के गाँवों की यही कहानी है, चाहे हम इस देहाती आहट को सुनना पसन्द करें या न करें।

टिप्पणियाँ

यह आलेख मालकोम आदिसेशिया यादगार भाषण का संशोधित स्वरूप है, जो नवम्बर 22, 2004 को दिया गया था।

यह आलेख *इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली* के वॉल्यूम नम्बर 8, फरवरी 19, 2005 में प्रकाशित हुआ था। इसका अक्षरशः हिन्दी अनुवाद नहीं किया गया है। हिन्दी के पाठकों को मद्देनजर रखते हुये आलेख के अनुसरण का प्रयास किया गया है।

प्रोफेसर नरेश भार्गव ने हिन्दी में रूपान्तरण किया है। भार्गव, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर से सेवानिवृत्त प्रोफेसर हैं।

ग्रामीण जीवन को पूर्व में विभिन्न तरीकों से चित्रित किया गया है। उदाहरण के लिए, 'दो बीघा जमीन', जो 1950 के दशक में एक शास्त्रीय फ़िल्म थी, उसमें एक गरीब किसान की कहानी का वर्णन

है जो एक महानगर में रिकशा चालक बन कर गाँव में अपने परिवार का भरण-पोषण करता है। फ़िल्म में वर्षा के देवता (इन्द्र) की प्रशंसा में एक गीत का समावेश है, लेकिन वर्षा न होने के कारण, किसान शहरों में रोज़गार ढूँढने जाते हैं ताकि वे गाँव में कर्ज चुका सकें। फ़िल्म निर्माता श्याम बेनेगल गाँव को एक नए स्वरूप में प्रस्तुत करने के लिए कटिबद्ध थे। उन्होंने ऐसी फ़िल्म बनाई जिनमें हिंसा के कई रंग देखे जा सके। प्रायः भूस्वामी या उनके पिछलग्गू ऐसी हिंसा को बढ़ावा देते हैं। 'मिर्च मसाला' या 'निशान्त' जैसे फ़िल्मों में बेनेगल ग्रामीण भारत में शोषण का सटीक चित्रण करते हैं। अन्य फ़िल्मों, जैसे मनोज कुमार की 'उपकार', गाँव, कृषकों और ग्रामीण जीवन की गौरवान्वित तस्वीर प्रस्तुत करती हैं। ऐसी फ़िल्मों में गाँव को एक समरूपी समुदाय के रूप में दर्शाया गया है, जहाँ नैतिक आधार पर अर्थव्यवस्था कायम है। कृषक अनेक प्रकार से पृथ्वी का नमक है, और भारत माता अपने करोड़ों लोगों के लिए अन्न पैदा करती है। प्रसिद्ध गीत – 'इस देश की धरती', इस कथन का उदाहरण है।

शहर वह स्थान है, जहाँ अवांछनीय लोग रहते हैं, और जिनका व्यवहार मूर्खतापूर्ण व अनैतिक है। शहर काला बाजारियों, धोखेबाजों, और ठगों का अड्डा है। गाँव के लोग शराब नहीं पीते, सिगरेट नहीं पीते और न ही शहरी लोगों की तरह नाइट क्लबों में जाते हैं। 'खोटे सिक्के' और 'अदालत' ऐसी दो अन्य फ़िल्मों हैं जो शहर का ऐसा चित्रण प्रस्तुत करती हैं। 'लगान' फ़िल्म, जो बहुत सफल रही थी, गाँव को एक समुदाय दर्शाती है, जहाँ हर व्यक्ति औपनिवेशिक युग में ब्रिटिश शासकों की दमनकारी माँगों के विरुद्ध एकजुट होता है। आम आदमी के साथ उच्च वर्ग की हमदर्दी भी दर्शायी गई है।

गाँव और शहर के बीच विरोध या इंडिया और भारत के बीच भेद भारतीय सिनेमा में एक निरंतर मुद्दा रहा है। मनोज कुमार को एक फ़िल्म में 'भारत' की संज्ञा दी गई है। बिमल रॉय की 'देवदास' फ़िल्म में नायक अपनी प्रियतम के साथ गाँवों के एकांत वातावरण में रहता है। जब देवदास को अपनी प्रियतम से विवाह करने से रोका जाता है तो वह कलकत्ता चला जाता है, शराब पीता है, और अपने इरादे पर डटा रहता है। महबूब खान की फ़िल्म 'मदर इंडिया' में नायिका शहर में अपने पति को ढूँढती है, जहाँ वह गायब हो जाता है (देखे दव्यर और पटेल, 2002)। आज भारतीय फ़िल्मों में गाँव से जुड़े आम दर्शकों को आकर्षित करने में बहुत कम कामयाब हैं।

1990 के दशक से भारतीय गाँव पर ऐसी फ़िल्म नहीं बनी है जो गाँव को सकारात्मक रूप में दर्शाए या शहरी जीवन की तुलना में गौरवान्वित करे। आज इस तरह के तुलनात्मक वर्णन लुप्त हो गए हैं।

इस विषय पर अपने आंकड़े उपलब्ध करवाने के लिए लेखक, ओंकार गोस्वामी का आभार प्रकट करता है।

संदर्भ

1. Abbi, B L and Kesar Singh (1997): *Post-Green Revolution in rural Punjab: A Profile of economic and socio-cultural change*. Chandigarh: Centre for Research in Rural and Industrial Development.
2. Bandhopadhyay, Suraj and Donal Don Eschen. (1991). *Agricultural failure: Caste, class and power in rural West Bengal*. In Dipankar Gupta (ed.), *Social stratification*. Delhi: Oxford University Press.

3. Basu, D.N. and S.P. Kashyap (1992). Rural non-agricultural employment in India: Role of development process and rural-urban employment linkages. *Economic and Political Weekly* 27(Review of Agriculture), A178–A189.
4. Beidelman, T.O. (1959). *A comparative study of the Jajmani system*. New York: Locust Valley.
5. Beteille, Andre (1980). The Indian village: Past and present. In E.J. Hobsbawm et al. (eds), *Peasants In history: Essays in honour of Daniel Thorner*. Kolkata: Oxford University Press.
6. Bose, Pradip K. (1991). Mobility and conflict: Social roots of caste violence in Bihar. In Dipankar Gupta (ed.), *Social stratification*. Delhi: Oxford University Press.
7. Chadha, G.K. (2003). Rural non-farm sector in In-dian economy: Growth, challenges and future di-rection. Mimeo, paper presented in the joint JNU-IFPRI Workshop on 'The Dragon and the Elephant: A Comparative Study of Economic and Agricultural Reforms in China and India', March 25–26, 2003, India Habitat Centre, New Delhi.
8. Chakravarti, Anand (2001). *Social power and eve-ryday class relations: Agrarian transformation in North Bihar*. New Delhi: SAGE Publications.
9. Cohn, Bernard (1987). *An anthropologist among historians*. Delhi: Oxford University Press.
10. Djurfeldt, Goran and Staffan Lindberg (1975). *Behind poverty: The social formation of a Tamil vil-lage*. London: Curzon Press.
11. Dumont, Louis (1970). *Homo hierarchicus: The caste system and its implications*. London: George, Weidenfeld and Nicolson.
12. Dwyer, Rachel and Divia Patel (2002). *Cinema India: The visual culture of Hindi film*. Delhi: Oxford University Press.
13. Epstein, Scarlett (1973). *South India: Yesterday, today and tomorrow*. London: Macmillan.
14. FAI (1988). Report of the High Powered Commit-tee on Fertiliser Consumer Prices, Fertiliser Asso-ciation of India, New Delhi.
15. Gupta, Dipankar (1997). *Rivalry and brotherhood: Politics in the life of farmers of North India*. Delhi: Oxford University Press.
16. ———. (2000). *Interrogating caste: Understanding hierarchy and difference in Indian society*. New Delhi: Penguin.
17. Harriss, John. (1982). *Capitalism and peasant farming: Agrarian structure and ideology in north Tamil Nadu*. Delhi: Oxford University Press.
18. Inden, Ronald (1991). *Imaging India*. Oxford: Basil Blackwell.
19. Jaffrelot, Christophe (2003). *The Silent Revolution: The rise of the low castes in North Indian politics*. Delhi: Permanent Black.
20. Jodhka, Surinder (2002). Caste and untouchability in rural Punjab. *Economic and Political Weekly* 37, 1813–1823.
21. Marriot, McKim (1955). *Village India: Studies in the little community*. Chicago: Chicago University Press.
22. Mujumdar, N.A. (2002). Rural development: New perspectives. *Economic and Political Weekly* 37, 3983–3987.
23. Parthasarathy, G. et al. (1998). Determinants of ru-ral non-agricultural employment: The Indian case. *Indian Journal of Agricultural Economics* 53, 139–154.
24. Pradhan, Basanta et al. (2000). Rural–urban dis-parities: Income distribution, expenditure pattern and social sector. *Economic and Political Weekly* 35, 2527–2529.
25. Rasul, M. A. (1974). *A history of the All India Kisan Sabha*. Kolkata: National Book Agency.

26. Ruthven, Orlanda and Sushil Kumar (2002). Moving mud, shifting soil: Change and development in wage labour livelihoods in Uttar Pradesh, India. Mimeo, Working Paper 176, Overseas Development Institute, London.
27. Sahay, Gaurang Ranjan (2001). *Village studies in India: A case of Bihar*. Jaipur/New Delhi: Rawat.
28. Simmons, Colin and Saliner Supri (1995). Participation in rural non-farm activity in India: A case study of cultivating households in Jalandhar District, Punjab. *International Journal of Punjab Studies* 2, 133–153.
29. Srinivas, M.N. (1987). *The dominant caste and other essays*. Delhi: Oxford University Press.
30. Vaidyanathan, A. (2001). Poverty and development policy. *Economic and Political Weekly* 36, 1807–1814.
31. Visaria, Pravin. (1995). Rural non-Farm employment in India: Trends and issues for research. *Indian Journal of Agricultural Economics* 50, 398–409.
32. Wisner, W.H. (1936). *The Hindu Jajmani system: A socio-economic system interrelating members of Hindu community*. Lucknow: Lucknow Publishing House.